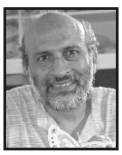
कक्षा के भीतर

कुछ करके देखें, कुछ बना के देखें

अरविन्द गुप्ता



यह ज़रूरी नहीं कि अच्छा विज्ञान महँगा हो। यह बहुत सस्ता और मज़ेदार भी हो सकता है।

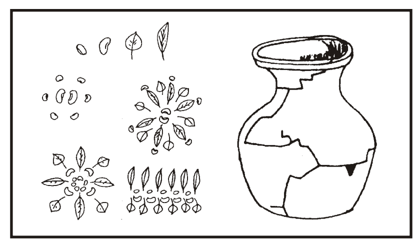
प्राथमिक विज्ञान पर सबसे बढ़िया भारतीय किताब, 'प्रिपरेशन फॉर साइन्स' (विज्ञान के लिए तैयारी), सन् 1928 में प्रकाशित हुई थी। इसे एक अमेरिकन अर्थशास्त्री रिचर्ड ग्रेग्स ने लिखा था, जिन्हें महात्मा गाँधी से गहरी प्रेरणा मिली थी। ग्रेग्स ने हिमाचल प्रदेश में अमेरिकन मिशनरी एस.ई.स्टोक्स के एक स्कूल में दो साल तक गतिविधियों पर आधारित विज्ञान पढ़ाया। भारतीय स्कूलों में बच्चों को विज्ञान कैसे पढ़ाया जाना चाहिए इसके लिए सर्वोत्तम पथ प्रदर्शक का काम यह किताब अभी तक करती आ रही है।

ग्रेग्स ने लिखा था:

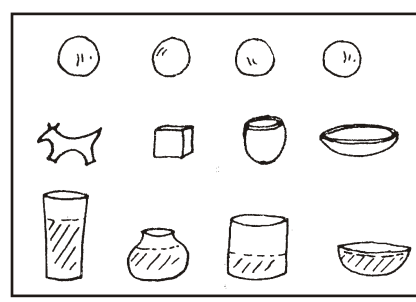
'इसके लिए ज़रूरी उपकरण बहुत ही सस्ते और सरल होते हैं और उसकी लगभग सभी चीज़ें गाँव के बच्चों के लिए जानी-पहचानी भी होती हैं। उसका अधिकांश हिस्सा गाँव के बढ़ई, कुम्हारों और लुहारों द्वारा बनाया जा सकता है। बच्चों की ऐसी धारणा नहीं बनना चाहिए कि विज्ञान का अर्थ मशीनें या कोई अजीबोगरीब प्रौद्योगिकी है। विज्ञान के महान पथ-प्रदर्शकों ने अपना काम बहुत ही सरल उपकरणों से किया था। इसलिए, उनके पदचिन्हों पर चलते हुए ज़्यादा खर्चीले और विस्तृत उपकरण के बिना भी वैज्ञानिक सोच-विचार करना सीखना सम्भव है। आखिरकार, इस प्रक्रिया में शामिल सबसे महँगा उपकरण तो विद्यार्थियों का दिमाग है।'

ग्रेग्स ने आगे यह भी कहा, 'मैं नहीं चाहता कि गाँवों के भारतीय बच्चे यह धारणा बनाएँ कि विज्ञान केवल स्कूल का मामला है, या कि उसका सम्बन्ध केवल चमकते हुए पीतल तथा काँच के उपकरणों और अन्य ताम-झाम से है। मैं मानता हूँ कि पश्चिमी प्रयोगशालाओं में इस्तेमाल होने वाले सभी महँगे और जटिल उपकरणों के बिना भी, या फिर ऐसी बहुत ही कम चीज़ों का इस्तेमाल करके भी, ये बच्चे ज़्यादा स्पष्ट ढंग से सोचना सीख सकते हैं और वैज्ञानिक नज़रिया विकसित कर सकते हैं।'

जैसा कि विज्ञान के इतिहास में अक्सर होता आया है, यह दूरदर्शी किताब सालों तक कहीं दबी रही। आखिरकार यूनीसेफ के एक सलाहकार कीथ वारेन ने 1975 में इसे दोबारा खोज निकाला। उन्होंने इसके कुछ भागों के लिए सचित्र उदाहरण बनाए और उसे 'प्रिपरेशन फ़ॉर अंडरस्टेंडिंग' के नाम से फिर से प्रकाशित किया। यह बच्चों को उनके चारों ओर के संसार में एक अन्तर्निहित व्यवस्था को खोज निकालने में मदद करती है। बच्चे ऐसी चीज़ों, जो बिलकुल महँगी नहीं होतीं, जैसे छोटे चिकने गोल पत्थरों, टहनियों, पत्तियों, तार, बीजों और अन्य प्राकृतिक पदार्थों का इस्तेमाल करके प्रकृति में व्यवस्थित संरचनाओं (पैटर्न्स) को ढूँढ़ निकालते हैं। यदि बच्चों के पास कागज़, पेंसिल नहीं है तो वे इन संरचनाओं को डण्डियों की सहायता से ज़मीन पर बना लेते हैं।



बच्चे पत्तियों और बीजों को जमाकर कई प्रकार की रंगोली जैसी आकृतियाँ बनाते हैं। बच्चों को एक टूटे हुए मिट्टी के बर्तन के टुकड़ों को गीली मिट्टी की सहायता से आपस में जोड़ने के लिए कहा जाता है; यह एक अच्छी त्रिआयामी जिगसॉ पहेली को सुलझाने के जैसा है।



एक दूसरे अभ्यास में, बच्चे सनी हुई मिट्टी की चार समान गेंदें लेते हैं। फिर वे प्रत्येक को अलग-अलग आकार में ढालते हैं, जैसे जानवर, एक घनाकार पिण्ड, एक बर्तन और एक प्लेट। बच्चों से फिर पूछा जाता है कि उनमें से कौन- सा ज़्यादा भारी है? क्या आकार के बदल जाने से वज़न भी बदल जाता है?

बच्चे एक ही कप से पानी चार अलग-अलग बर्तनों में डालते हैं। फिर उनसे पूछा जाता है, 'किस बर्तन में ज़्यादा पानी है?'

किताब का मूल सिद्धान्त यह है कि बच्चे किसी चीज़ को समझ सकें इसके लिए पहले उन्हें अनुभव की ज़रूरत होती है: देखना, छूना, सुनना, स्वाद लेना, सूँघना, चुनना, जमाना, अलग-अलग हिस्सों को जोड़कर किसी चीज़ को बनाना, और चीज़ों के हिस्सों को अलग-अलग करना। बच्चों को वास्तविक चीज़ों के साथ प्रयोग करने की ज़रूरत होती है।

स्कूलों में विज्ञान की शिक्षा को दोबारा जीवित करने का सबसे बढ़िया भारतीय प्रयास निश्चित रूप से 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' था। 1972 में होशंगाबाद से शुरू होकर होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम बाद में मध्यप्रदेश के 14 जिलों के 1000 से ज़्यादा सरकारी माध्यमिक स्कूलों में फैला। यह स्वयं खोजने की प्रक्रिया पर आधारित था। बच्चे सरल प्रयोगों को करते और फिर वे अपने प्रयोगों पर आधारित प्रश्नों के उत्तर देते। वे ज्ञान

के 'निष्क्रिय उपभोक्ता' न होकर उसके 'वास्तविक निर्माता' होते थे। इसमें कोई पाठ्यपुस्तकें न होकर केवल कार्य पुस्तकें (वर्कबुक्स) थीं। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत पाठ्यक्रम की रूपरेखा तैयार करने में शिक्षकों की सक्रिय भागीदारी थी। इसने कई सुयोग्य और उत्साही लोगों को आकर्षित किया। प्रोफेसर यशपाल शिक्षकों के प्रथम प्रशिक्षक बनकर आए। इसने दबी पड़ी जबर्दस्त ऊर्जा और सृजनशक्ति को बाहर आने का मौका दिया। यह काम सिर्फ मानक फ्लास्कों को स्थानीय काँच की बोतलों से बदल देने तक सीमित नहीं था। यह खोज ऐसे स्थानीय विकल्पों, सस्ते, परिचित पदार्थों और सामग्री के लिए थी, जो बच्चों के सांस्कृतिक वातावरण के नजदीक हो और जिनसे वे कटा हुआ महसूस न करें। इसके लिए एक खुले दिमाग और आलोचनात्मक नज़रिए की ज़रूरत थी। बच्चों ने 'विच्छेदन सुइयों' को छोड़कर उनका काम बबूल के काँटों से लिया। टाइट्रेशन के लिए इस्तेमाल होने वाले संकेतक फिनॉफ्थेलीन को एक जानी-पहचानी कब्ज़ दूर करने वाली गोली 'वैक्यूलेक्स' में खोज लिया गया। इस गोली को पानी की एक निश्चित मात्रा में घोला गया जिससे एक बहुत अच्छा 'संकेतक' बन गया।

द्वितीय विश्व युद्ध ने कई देशों को तबाह कर दिया था। कठोर आर्थिक परेशानियों से जूझते हुए कुछ गरीब देशों ने किसी तरह स्कूल बनाने का इंतज़ाम तो कर लिया। पर फिर उनके पास विज्ञान की प्रयोगशालाएँ बनाने के लिए पैसा नहीं बचा। उनको बनाना महँगा काम था। 1950 के दशक के बाद के सालों में एक ब्रिटिश शिक्षक जे.पी. स्टीफेन्सन ने एक किताब निकाली। इसमें बहुत ही सरल सामग्री का इस्तेमाल करते हुए प्रक्रिया-आधारित विज्ञान सीखने की सम्भावनाएँ दर्शाई गई थीं। किताब का शीर्षक अपने आप में महत्वपूर्ण था 'सजेशन्स फॉर साइन्स टीचिंग इन डिवास्टेटेड कन्ट्रीज' (तबाह हो चुके देशों में विज्ञान शिक्षण के लिए सुझाव)। इस किताब ने दुनिया में एक क्रान्ति ला दी। इसने दिखाया कि महँगे और शानदार उपकरण साधारण बच्चों के जीवन से बहुत दूर की चीज़ें थीं। वास्तव में बच्चों के लिए बिलकुल विदेशी और परायेपन का एहसास करानेवाली। यूनेस्को किताब के दायरे का विस्तार करने तथा उसे गहराई देने के लिए तैयार हो गया, और इस प्रकार विज्ञान की गतिविधियों के लिए बाइबिल कही जाने वाली प्रसिद्ध किताब *यूनेस्को सोर्स बुक फॉर साइन्स टीचिंग* (विज्ञान शिक्षण के लिए यूनेस्को की स्रोत पुस्तक) सामने आई। 1963 में इस किताब को हिन्दी, मराठी और कुछ अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवादित किया गया।

विनी हारलेन और जॉस एल्स्तगीस्त की लिखी *द यूनेस्को सोर्स बुक फॉर साइन्स इन द प्राइमरी स्कूल* (प्राथमिक स्कूल में विज्ञान के लिए यूनेस्को की स्रोत पुस्तक) 1990 के दशक की शुरुआत में सबसे पहले प्रकाशित हुई थी। इस किताब के अन्तर्राष्ट्रीय संस्करण की कीमत 20 अमेरिकी डॉलर रखी गई थी। खुशकिस्मती से, नेशनल बुक ट्रस्ट ने इस किताब के एक सस्ते भारतीय संस्करण को फिर से छापा, जिसकी कीमत सिर्फ 65 रुपये थी। इस किताब का कभी पुनरावलोकन नहीं किया गया लेकिन अभी भी यह चौथी बार फिर से छपी है। इस बात से मेरा भरोसा जगता है कि, यदि एक अच्छी और उचित कीमत की किताब हो, तो उसकी बिक्री साधारण शिक्षकों के बीच अच्छी होगी। किताब के दो भाग हैं: एक सैद्धान्तिक खण्ड है, और उसके बाद विज्ञान की गतिविधियों पर चार अद्भुत खण्ड हैं : बच्चे और पानी; बच्चे और संतुलन; बच्चे, आइने और प्रतिबिम्ब; तथा बच्चे और वातावरण। काश कि कुछ दूरदर्शी लोग इन गतिविधियों से भरी किताबों का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद कर देते तो कितना अच्छा होता!

दुनिया भर के अनुभवों ने यह दिखाया है कि पहले से तैयार की गई विज्ञान की किट शायद ही कभी काम में आती है। ज़्यादातर मामलों में ये बन्द ही रखी रहती हैं। शिक्षक ने न तो उनके बारे में सोचा था, न उन्हें बनाया था और न ही उन्हें जोड़कर इकट्ठा किया था और इसीलिए वह उन्हें आत्मविश्वास के साथ इस्तेमाल नहीं कर पाता/ कर पाती। किट इस्तेमाल करते वक्त टूट सकती है। इसलिए इसे बन्द कर के रखना ही सबसे ठीक लगता है। लेकिन जब कभी भी शिक्षकों को रोज़मर्रा की सामग्री का उपयोग करते हुए विज्ञान के सरल नमूनों को बनाने की सम्भावनाएँ दिखाई गईं तो उन्होंने बड़ा उत्साह दिखाया। जव वे खुद अपने हाथों से चीज़ें बनाते हैं तब वे 'सशक्त' महसूस करते हैं, और यह सम्भावना ज़्यादा रहती है कि वे ऐसी चीज़ों का पढ़ाने में इस्तेमाल करेंगे।

हम उपभोक्तावादी समाज में रहते हैं जहाँ कबाड़ के अम्बार पैदा होते हैं : कार्डबोर्ड के डिब्बे, बॉल पेन की रीफिलें, पुराने पेन, सिक्के, झाड़ुएँ, अखबार, साइकिल की ट्यूबें, माचिस के डिब्बे, टैट्रापैक्स, आइसक्रीम की डण्डियाँ, नलियाँ आदि। इस सूची का कोई अन्त नहीं है। इन सारे सामानों का सार्थक ढंग से फिर से उपयोग (पुनर्चक्रीकरण) करके विज्ञान के मज़ेदार नमूने और बच्चों के खिलौने बनाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, प्राथमिक स्कूल के बच्चे कैमरा फिल्म रखने की दो खाली डिब्बियों को एक साइकिल की ट्यूब के टुकड़े से जोड़कर, तथा वॉल्व के लिए चिपकने वाले टेप के टुकड़ों का इस्तेमाल करके एक शानदार हैंडपम्प बना सकते हैं। यह सस्ता हैंडपम्प एक गुब्बारे को फुला सकता है और पानी को 10 फुट दूर तक फेंक सकता है।

बच्चे सबसे अच्छे तरीके से तब समझते हैं जब वे विज्ञान के किसी सिद्धान्त को किसी खिलौने में काम करता हुआ पाते हैं। यदि वे किसी चीज़ के साथ खेल पाते हैं तो वे उसे बेहतर तरीके से महसूस करते हैं। 'अपकेन्द्री' और 'अभिकेन्द्री' बल जटिल अमूर्त शब्द हैं और बच्चों के लिए इनका कोई मतलब नहीं होता। लेकिन एक घूमने वाली झाड़ू इन शब्दों को अर्थ दे सकती है। खुद का बनाया एक खिलौने वाला कलाबाज जब घुमाने पर हवा में अपने हाथपैर फैलाता है तो वह इस अमूर्त अवधारणा को स्थूल आकार दे सकता है। सुदर्शन खन्ना की किताब *द ज्वॉय ऑफ मेकिंग इण्डियन टॉयज* में विज्ञान के ऐसे 100 अद्भुत खिलौनों को संग्रहित किया गया है। हिन्दी में यह सुन्दर

सलौने भारतीय खिलौने नाम से उपलब्ध है। (सिर्फ 40 रुपये कीमत की इस किताब को एनबीटी ने प्रकाशित किया है)। ये खिलौने युगों से चलन में हैं। हर पीढ़ी ने इस खजाने को बढ़ाया है और उसे समाज की सम्पत्ति के रूप में अपने पीछे छोड़ गई है। 'इस्तेमाल करके फेंक दिए जाने वाले' सामानों से बनाए गए ये खिलौने पर्यावरण के अनुकूल हैं और गरीब से गरीब बच्चे भी इनका आनन्द ले सकते हैं। इनको बनाने में बच्चे कई तरह की सामग्री को काटना, छोटा करना, चिपकाना, जोड़ना, कील से ठोकना और आपस में जोड़कर कोई संरचना बनाना सीखते हैं। इससे वे उम्दा विज्ञान भी सीखते हैं।

विज्ञान की समस्या यह है कि लोग अभी भी अपने हाथ गन्दे नहीं करना चाहते। रट्टा लगाने, चॉक से लिखने और भाषण देने की विधि अब भी सब जगह हावी है। हर आदमी पाठ्यक्रम को कवर करना चाहता है। इस चक्कर में वह यह भूल जाता है कि शिक्षा का मुख्य लक्ष्य ही चीज़ों को अनकवर करना है।

बॉस्टन में बच्चों के संग्रहालय की रचनात्मक निदेशक और बड़े बदलाव लाने वाली किताब मेकिंग थिंग्स की लेखिका ऐन आयर वाइज़मैन ने अच्छे विज्ञान के मूलतत्व को सार रूप में इन शब्दों में पेश किया है:

ठीक है असफल होना

ठीक है गलतियाँ करना
वे तुम्हें बहुत कुछ सिखाएँगी।

ठीक है मनमाफिक समय लेना
ठीक है खुद के अनुकूल गति से चलना
ठीक है चीज़ों को अपने ढंग से करके देखना
ठीक है असफल होना

इसके भय से मुक्त हो,
अवसर है दोबारा कोशिश करने का

ठीक है दूसरों को बुद्धू दिखना
ठीक है औरों से अलग होना

ठीक है प्रतीक्षा करना,
जब तक मन भीतर से तत्पर ना हो
ठीक है प्रयोग करना (सुरक्षा में)

ठीक है हर 'करना चाहिए' से 'क्यों पूछना'
खास है तुम्हारा तुम होना
ज़रूरी है बेतरतीबी मचा देना,

और फिर सफाई करने को प्रस्तुत रहना
(अक्सर सृजन का काम बेतरतीबी मचाता है)

अरविन्द गुप्ता पुणे के चिल्ड्रन्स साइन्स सेन्टर में काम करते हैं। इस लेख में जिन किताबों का जिक्र किया गया है वे उनकी वैबसाइट http://arvindguptatoys.com पर देखी जा सकती हैं। उनका ई-मेल पता है: arvindguptatoys@gmail.com

---

विज्ञान की कक्षा में बच्चों की आवाज़

ज्योत्सना वीजापुरकर



विज्ञान की शिक्षा पर हुए अनेक शोधों ने यह दिखाया है कि बच्चों को विज्ञान की कक्षा में जो पढ़ाया जाता है उससे उनकी स्वयं की वैकल्पिक अवधारणाएँ बहुत भिन्न होती हैं। ज़्यादातर शिक्षण के प्रचलित तरीके बच्चों की एक गलत धारणा में संशोधन करके उसे दूसरी ऐसी धारणा में बदल देते हैं, जो फिर भी गलत ही होती है। अच्छी बात यह है कि शिक्षण से धारणा में बदलाव लाने में तो मदद मिलती है, परन्तु दुखद बात यह है कि अक्सर यह बदलाव वह नहीं होता जिसके बारे में शिक्षक ने सोचा था।

शोधकर्ताओं ने उजागर किया है कि पढ़ाए जाने के बावजूद बच्चे ढेर सारी वैकल्पिक अवधारणाओं को मानते हैं। यह तथ्य दर्शाता है कि कहीं पर कोई तो उन बातों को सुन रहा था जो बच्चे कहना चाहते थे। निश्चित रूप से आगे की छानबीन के लिए इस प्रकार के किसी सूत्र को शुरुआती बिन्दु बनाना होगा।

शिक्षकों के साथ काम करते हुए यह बात बार-बार निकल कर सामने आई कि बच्चों के अनेक विचार और अवधारणाएँ शिक्षकों के लिए बिल्कुल चौंकाने वाले होते हैं। मुझे यह देखकर धक्का-सा लगा कि बहुत बड़ी संख्या ऐसे शिक्षकों की है जो इस बात से अनजान होते हैं कि बच्चों के दिमाग में क्या चल रहा है। ऐसा क्यों है कि सालों पढ़ाने के बाद भी हमें यह अहसास नहीं हो पाता कि जो सिखाया जा रहा है और जो वह सीख रहा है, उसके बीच सम्बन्ध नहीं है?

मेरा विश्वास है कि इसका उत्तर उस ढर्रे में छिपा है जिस ढर्रे से हमारी विज्ञान की कक्षाएँ संचालित की जाती हैं।

एक आम कक्षा में जब शिक्षक कोई प्रश्न पूछता है तो एक या दो हाथ ऊपर उठते हैं। एक बच्चा अपेक्षित उत्तर दे देता है, उसे स्वीकृति मिल जाती है। कक्षा आगे बढ़ जाती है। अक्सर पूछे गए प्रश्न का पाठ्यपुस्तक के अनुसार कोई सही 'उत्तर', या कहें कि एक मात्र सही उत्तर होता है। कुछ बिरले मौकों